

## कविता की विकास यात्रा : नयी कविता, गीत और नवगीत

भगवाना राम बिश्नोई

सह आचार्य हिन्दी राजकीय महाविद्यालय सिरौही राजस्थान

मानवीय विकासगाथा में काव्य का प्रादुर्भाव मानव के लगातार सांस्कारिक होते जाने और संप्रेषणीयता के क्रम में गहन से गहनतर तथा लगातार सुगठित होते जाने का परिणाम है। मानवीय संवेदनाओं को सार्थक अभिव्यक्ति नाट्यशास्त्र और इसकी विधाओं से मिली जहाँ से काव्यशास्त्र ने अपने लिए आवश्यक अवयव ग्रहण किये। इन्हीं अवयवों के कारण ही निवेदन गहनतर होते चले गये। काव्यशास्त्र के आधारभूत अवयव कविता को समझने और कविता के माध्यम से वैचारिक संप्रेषणीयता को समझने के भी मूल रहे हैं।

भाव-संप्रेषण की वह शाब्दिक दशा जो मानवीय बुद्धि के परिप्रेक्ष्य में मानवीय संवेदना को तथ्यात्मक रूप से अभिव्यक्त करे, कविता होती है। सपाट भावाभिव्यक्ति सहज और सुगम भले हो, तथ्यात्मकता को संवेदनाओं का साहचर्य और संबल नहीं दे सकती। इसी कारण भावुकता का अर्थवान स्वरूप जहाँ कविकर्म है वहीं उसकी शाब्दिक परिणति कविता है। यही कारण है, कि कविता शब्द-व्यवहार के कारण भाषायी-संस्कार को भी जीती है। इसी कारण भाषा-व्यवहार और शब्द-अनुशासन कविता के अभिन्न अंग हैं। तात्पर्य यह है कि भावुक अभिव्यक्ति या भाव-उच्छ्वंखलता कभी कविता नहीं हो सकती। जबकि यह भी उतना ही सत्य है, कि भावुकता ही कविता का मूल है। यानि, मात्र एक तार्किक शब्द अपने होने मात्र से कविता का निरूपण कर सकता है। क्योंकि शब्द इंगित मात्र न होकर भाव-भावना-अर्थ का भौतिक समुच्चय हैं। इसे यों समझें, कि शब्द वृत्तियों के भौतिक निरूपण की भौतिक इकाई हैं। वृत्तियों के संचरण और निर्वहन में शब्द एक बड़ी भूमिका निभाते हैं। अतः चित्त का विवेक, यानि बुद्धि, कविता की उत्पत्ति और समझ दोनों के लिए अनिवार्य है।

कविता संप्रेषण के कई साधन हो सकते हैं तथा इन साधनों की कितनी ही प्रासंगिक, अप्रासंगिक विधायें होती हैं! छंदबद्धता, छंद-उन्मुक्तता इसके मुख्य साधन हैं और मात्रिकता, गणना, तुकान्तता, गेयता, अलंकार, संप्रेष्य तथ्य आदि-आदि उन साधनों के अवयव। अर्थात्, गीति-काव्य के अंतर्गत हुआ संप्रेषण और स्वच्छंद भावाभिव्यक्ति, इन दोनों माध्यमों से भाव-संप्रेषण होता है। यानी, ये दोनों ही कविता के दो भिन्न स्वरूप हैं। यानी, वर्तमान में व्यावहारिकता के लिहाज से कविता दो तरह की होती हैं - एक, ऐसी कविता जो भाव-विस्फोट को शब्दों की ऐसी काया दे जो गेय या वाच्य हो। दूसरी, वह कविता जो प्राणिगत भावोद्धार को शब्दों का ऐसा प्रारूप दे जिसे बुद्धि द्वारा साधा जा सके। लेकिन, यह भी सही है कि माध्यम कोई हो, वह इतना प्रच्छन्न नहीं होता। उनके मिश्रित स्वरूप भी हैं जिन्हें हम आगे देखेंगे। कहने का तात्पर्य है कि कविता सुनने और गाने के साथ-साथ पढ़ने-गुनने और उसके आगे मनन-मंथन की भी चीज हो जाती है।

वस्तुतः कविता का मुख्य कार्य श्रोता-पाठक की भावदशा को संवेदित करना है। इस आधार पर हम यह कहने की स्वतंत्रता ले सकते हैं कि जिस शब्द-व्यवहार से मानवीय संवेदनाएँ प्रभावित तथा संवेदित हो सकें, वही कविता है। अनुभूति की उच्च अवस्था के पहले भाव-साधना तथा शब्द-साधना के घोर तप से गुजरना होता है। कविता का कोई रूप क्यों न हो उसका हेतु और उसकी प्रासंगिकता मानवीय संवेदना को संतुष्ट या प्रभावित करना है। इस स्तर पर कविता का शिल्पगत स्वरूप प्रभावी नहीं होता, बल्कि तथ्यात्मक संप्रेषण की महत्ता अधिक होती है। इस विचार से कविता गेय हो या वाच्य हो या मननीय हो, कविता मात्र कविता होती है।

किन्तु संप्रेषण-माध्यम के अनुरूप कविता को वैधानिक शिल्प मिलना आवश्यक हो जाता है। यहीं से कविता कभी गीत की शक्ति में सामने आती है तो शब्द-चित्र की शक्ति में, कभी गेय-बन्द के रूप में सुनने को मिलती है तो वहीं कविता मनन-मंथन के तौर पर कई बिन्दु साझा करती हुई दिखती है जिसका स्वरूप कई बार गद्य के अत्यंत निकट का होता है! अ-कविता, गद्य-

कविता, क्षणिकाएँ, नयी कविता, गीत, नवगीत आदि-आदि भावानुभूतियों के ही कई स्वरूप हैं। कविता के इन सभी स्वरूपों के वैधानिक ही नहीं प्रस्तुतीकरण के हिसाब से भी अपने-अपने मान्य आग्रह हैं।

पुराने मनीषियों की अवश्यकता और समझ के अनुसार कविता श्रव्य थी। इसी कारण, कविता और छंदों में शाब्दिक चमत्कार को निरूपित करने के लिए अलंकारों की आवश्यकता होती थी। उससे पूर्व नाट्यशास्त्र के नव-रसों के माध्यम से कविता को श्रेणीबद्ध करने का साग्रह प्रयास किया गया ताकि कोई शाब्दिक संप्रेषण मानवीय मनोदशा की आवश्यकता के अनुसार हुए शाब्दिक-निवेदन को इकाईगत किया जा सके। कालांतर में आज कविता पठनीय हो गयी है। इसके प्रारूपों में मात्र शब्द ही नहीं, बल्कि गणित शास्त्र के मान्य और स्वीकृत गणितीय-चिह्न भी कविता का मुख्य भाग बन गये हैं जिनको ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया ही नहीं जा सकता। अतः कविता श्रव्य मात्र रह ही नहीं गयी है। अपितु, यह विचारों की अति गहन इकाई भी हो चुकी है। अर्थात् कविता का यह भी एक आधुनिक स्वरूप है। क्योंकि, ऐसा संप्रेषण भी व्यवहार में समेकित रूप से मानवीय संवेदना को प्रभावित करता है। अतः कविता है! यदि कोई वर्ग वास्तव में ऐसे संप्रेषणों को समझता है और इनसे प्रभावित होता है तो ऐसे संप्रेषण अवश्य कविता हैं। यह कविकर्म की मानसिक सम्पन्नता और श्रोता-पाठक की मानसिक व्यवस्था के संयमित मेल पर निर्भर करता है कि कोई संप्रेषण मानवीय मर्म की किस गहराई तक अपनी पहुँच बना पाता है।

यानि, एक स्तर से नीचे की कविता प्रबुद्ध श्रोता-पाठकों को जहाँ संवेदित या संतुष्ट नहीं कर सकती, तो एक स्तर से आगे की कविता कतिपय श्रोता-पाठकों के लिये दुरूह हुई उनसे अस्वीकृत हो जाती है। इस के लिए जहाँ तक संभव हो, दोनों इकाइयों का उत्तरोत्तर मानसिक विकास आवश्यक है। अन्यथा, एक विन्दु के बाद कविता अपने कर्तव्य से गिरती दिखती है, तो श्रोता-पाठक अपने मानसिक, वैचारिक, भावप्रधान विकास से वंचित रह जाते हैं।

हम अब गीतों की अवधारणा समझें और इनके हेतु पर संक्षिप्त चर्चा करें। सभ्यता की विकास यात्रा में सांस्कारिकता के अपने उसूल हैं। मनुष्य सामुहिक तौर पर जीता हुआ प्राणी है। अतः उसकी वैयक्तिकता भी सामुहिक प्रभाव से संवेदित होती है। नितान्त वैयक्तिकता हो ही नहीं सकती। और यहीं गीत किसी समूह या समाज की भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनने लगे। भारतीय समाज एक प्रारम्भ से, अर्थात् सैकड़ों-हज़ारों साल से, गीत को वैयक्तिक और सामाजिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। भारतीय उपमहाद्वीप में गीतों की लम्बी परिपाटी रही है। इस उपमहाद्वीप के प्रायः सभी देशों में बहुसंख्य आमजन अपने सभी सुख-दुख, हर्ष-विषाद, उत्साह-उमंग, उल्लास-विषाद, जय-पराजय, संघर्ष की चेतना और मुक्तिसंघर्ष की भावना की सहज अभिव्यक्ति गीत के माध्यम से करते रहे हैं। जीवन यापन और जीवन व्यवहार के सभी अवसरों, ऋतुओं, उत्सव-त्यौहारों एवं भौतिक-वैचारिक-सामाजिक-आध्यात्मिक व्यापारों के लिए भिन्न-भिन्न गीत उद्भूत हुए हैं। गीतों का फैलाव बहुत ही विस्तृत है। श्रमजीवी समाज के लिए गीत जीवनी-शक्ति का पर्याय थे जिनके माध्यम से वह अपनी सामुहिकता को स्वर देता हुआ अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को अभिव्यक्त हुआ पाता था। गीतों के माध्यम से समाज के सभी वर्गों के लोगों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आयामों को अत्यंत ही संवेदनशील और सार्थक अभिव्यक्ति मिलती रही है। अतः हम कह सकते हैं कि गीत वह काव्य रचना है, जिसकी परिणति व्यापक जन-समूह द्वारा गाया जाना है। अर्थात्, गेय होना गीत के लिए अनिवार्य शर्त है। सुप्रसिद्ध जनवादी गीतकार नचिकेता का स्पष्ट मानना है कि 'जो गेय नहीं है, वह गीतात्मक कविता हो सकती है, लेकिन गीत कदापि नहीं। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है, कि जो रचनाएँ गेय हैं वे सभी रचनाएँ गीत हैं। दरअसल, गीतात्मक आंतरिकता की रूपात्मक अभिव्यक्ति ही गीत है।'

छन्दानुशासन, गेयता और सांगीतिक लयात्मकता ही किसी रचना के गीत होने की कसौटी हैं। गीत-रचना में विचारों का अन्तःसंगीत और उसके शब्दों की लयात्मकता का होना अनिवार्य शर्त है। ऊपरी सतह पर देखने में गीत भले ही रचनाकार की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति प्रतीत हों, किन्तु, आंतरिक संरचना के हिसाब से ये उसके स्व की खोज की प्रक्रियास्वरूप ही आकार पाते हैं। एक गीतकार अपनी गीत-रचना के माध्यम से अपने को व्यष्टि के सापेक्ष अभिव्यक्त कर पाता है। इस क्रम में अपने अनुभवों को समाज के अनुभवों से जोड़ कर अपने आप को सामाजिक सम्बन्धों के साँचे में ढाल कर सामाजिक दृष्टि से एक अत्यंत ही मूल्यवान वस्तु का निर्माण करता है। इस प्रकार, यह भी कह सकते हैं कि गीत की रचना असंयत व्यक्तिगत सम्बन्धों, बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों आदि के उपजे तनाव से होती है। प्रत्येक सार्थक गीत वस्तु से चेतना का और समाज से व्यक्ति का ऐतिहासिक सम्बन्ध निरूपित करता हुआ सामने आता है। यह सम्बन्ध रचना में जितना अधिक स्पष्ट और विशिष्ट होगा, गीत उतना ही

मूल्यवान होगा, अर्थपूर्ण होगा। गीतों की सफलता अभिव्यक्त हुई भाषा और भाव में कवि द्वारा स्वयं को बिला देने से आँकी जा सकती है। ऐसा कि, कवि नहीं बल्कि भाव और भाषा का अपना स्वर रचना के माध्यम से गुँजने लगे जो सबके लिए सहज स्वीकार्य हो।

वस्तुतः, गीत और कविता एक दूसरे के पूरक हैं। इसके बावजूद गीत और कविता की रचना-प्रक्रिया, उसके रूपबंध, उद्देश्य और प्रभावोत्पदकता में स्पष्ट भिन्नता होती है। कोई भी गीत अगर कविता के अनिवार्य आंतरिक तत्वों से रिक्त है, तो वह एक अलग इकाई या स्वच्छंद 'गाना' हो सकता है, गीत कतई नहीं हो सकता। गीत और कविता की रचना प्रक्रिया रूपबंध, प्रभावोत्पदकता, अभिव्यक्ति-भंगिमा और रचनात्मक उद्देश्यों में काफ़ी भिन्नता होती है, यानी, गीत की कसौटी वही नहीं होगी जो समान अर्थवाली कविता की होगी। प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवाद और नयी कविता युग के गंभीर काव्य-विमर्शों ने गीत को विस्थापित कर दिया है। किन्तु इस विन्दु पर अभी नहीं आगे देखेंगे।

कवि केदारनाथ सिंह के शब्दों में 'गीत कविता का 'नितांत निजी स्वर' है। 'नितांत निजी स्वर' में यह ध्वन्यार्थ अंतर्निहित है कि भारतीय या हिन्दी गीत और पश्चिम के लिरिक (गीत/प्रगीत) में गुणात्मक भिन्नता है।' यह अलग बात है कि हिन्दी के प्रखर मार्क्सवादी आलोचक भगवत शरण उपाध्याय की दृष्टि में 'गीति-काव्य जैसी किसी काव्य विधा का विधान भारतीय काव्यशास्त्र में नहीं है। इस विधा का नाम हिन्दी में अंग्रेजी लिरिक से अनुदित हो कर पड़ा है।' नामवर सिंह के विचार में 'वेद की ऋचाओं को गाने के लिए छन्दबद्ध कर के गेय बनाया गया है। इसलिए वैदिक ऋचाएँ वैदिक संदेश को प्रचारित और प्रसारित करने में बहुत सहायक हुई हैं। इन्हें हम गीत का आदिम स्वरूप ही कह सकते हैं। सामवेद, जिनमें छान्दसिकता का मूल स्वरूप स्पष्ट रूप से दृष्टव्य है, के अनुसार गीत के चार प्रकार हैं - (1) ग्राम्य गीत, अर्थात् लोकगीत (2) अरण्यगीत, यानी, आदिवासी गीत (3) ऊहगीत, अर्थात्, विचार प्रधान गीत, यानी, साहित्यिक गीत (4) ऊहागीत, यानी, राग-रागिनियों का आश्रय ले कर रचे गये गीत, जो वाद्ययंत्रों की सहायता से गाये जाते हैं।

कालांतर में अनुभूति की संरचना भाषा-शिल्प की बनावट, विषयवस्तु और संवेदना के धरातल पर मांसल, रूमानियत, लिजलिजी भावुकता, लय-छन्दों में अनावश्यक विस्तार आदि के कारण गीत भिन्न ही नहीं आमजन की भावनाओं से असंपृक्त दिखने लगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में 'पण्डितों की बाँधी प्रणाली पर चलने वाली काव्यधारा के साथ-साथ सामान्य अपढ़ जमात के बीच एक स्वच्छन्द और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है। ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर आती हुई पण्डितों की साहित्य भाषा के साथ-साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पण्डितों की काव्य भाषा स्थिर हो कर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर निकल जाती है, और जनता के हृदय पर प्रभाव डलने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है, तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपने काव्य परम्परा में नया जीवन डालता है।' यह उद्घोषणा ऐसा सत्य है जो काव्य के शैल्पिक ही नहीं, बल्कि उसके अंतर्निहित संप्रेषण के विन्दुओं की भी परीक्षा लेता है। रचनाकर्म कैसे अपने समय के पारम्परिक स्वरूप से आगे बदलाव की पटरी पर बढ चलते हैं, यह उक्ति उसका कारण बताती है।

पद्य-साहित्य के इतिहास में छान्दसिक अनुशासनों की ओट में एक ऐसा समय आया, जब रचनाओं में कथ्य के तथ्य प्रभावी नहीं रह गये। रचनाओं से 'क्यों कहा' गायब होने लगा और 'कैसे कहा' का शाब्दिक व्यायाम महत्वपूर्ण होने लगा। अभिव्यक्तियाँ वाग्विलास और शब्द-कौतुक या अर्थ-चमत्कार की पोषक तथा आग्रही भर रह गयीं। पद्य-रचनाएँ सामान्य जन की भावनाओं, भाव-दशाओं या आवश्यकताओं से परे विशिष्ट वर्ग के मनस-विकारों को पोषित करने का माध्यम मात्र रह गयी थीं। ऐसे काल-खण्डों में साहित्य अपने हेतु से पूरी तरह से भटका हुआ प्रतीत हुआ है। चूँकि छन्द रचनाकर्म की अनिवार्यता हुआ करते थे, अतः इस पद्य-साहित्य में ऐसे अन्यथाकर्मों का सारा ठीकरा फूटा छन्दों पर। छन्दों को ही त्याज्य समझा जाने लगा। छन्द आधारित गेय रचनाओं या गीतों को 'मरणासन्न' और, बादमें तो, 'मृत' ही घोषित कर दिया गया। पद्य-संप्रेषणों के प्रयास के क्रम में गेयता के निर्वहन हेतु किया गया कोई प्रयास निरर्थक घोषित होने लगा। इसके विरुद्ध सामाजिक प्रतिक्रिया तो होनी ही थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पूरे देश में उत्साह का वातावरण तारी हुआ था। उल्लास और नव निर्माण की नयी चेतना से जन मानस में नये-नये स्वप्न उत्पन्न हुए थे। लेकिन शीघ्र ही नेहरू युग की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आज़ादी की योजनाएँ विफलता और निराशा का दर्द पैदा करने लगीं। इसी स्थिति ने जनमानस के व्यवहार में आक्रोश, विद्रोह, विरोध, अस्वीकृति,

खीझ, व्यंग्य, रोष, आतंक, तनाव, अवसाद, संत्रास, विवशता, संकट, पीड़ा, आत्महत्या, आत्मनिर्वासन, आत्मरति, श्रम के परायेपन, अवमानवीकरण, सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन, संदर्भहीनता, निरर्थकता आदि का होना देखा। मूल्यहीनता चीत्कार कर उठी और मोहभंग अभिव्यक्ति में घर कर गयी। मूल्यों का यह अंधायुग था जिसने 'नयी कविता' को भीतर बाहर से बेचैन किये रखा। रचनाकार को अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारणों से जीवन के प्रति आस्था खोती दिख रही थी। वह अनुभूति की ईमानदारी से अनास्था, संत्रास, विवशता, अकेलापन, आत्मनिर्वासन आदि को व्यक्त करने लगा। ऐसे में नयी कविता में युगबोध को बौद्धिकता और अनुभव की प्रामाणिकता से स्वर मिला। आधुनिकता का अर्थ बनी-बनायी परम्परा के विरुद्ध जाना हो गया। अतः नयी कविता बदलते रागात्मक सम्बन्धों को रेखांकित करने वाली युग चेतना का वाहक बन गयी।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में स्वाधीनता प्राप्ति के आसपास की नयी काव्य चेतना को व्यापक अर्थों और संदर्भों में 'नयी कविता' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इसका कारण भारतीय समाज मात्र की सामाजिक, साहित्यिक या सामयिक प्राप्ति नहीं थी। बल्कि, द्वितीय विश्वयुद्ध की भयंकर विभीषिकाओं ने अपने प्रभाव-दबाव से विश्व भर में एक पुराने संसार को नष्ट कर दिया था। काव्यकर्म का व्यवहार बदलना ही था। यह बदलाव आया वैश्विक रूप से! काव्यकर्म का नया भावबोध, नये राजनीतिकरण, सामाजिकीकरण, सांस्कृतिकीकरण, आधुनिकीकरण की जटिल प्रक्रिया से पैदा होने के कारण जीवन की जटिलता, यंत्रणा और पीड़ा को मानव चेतना के केन्द्र में दिखाने का प्रयास करने लगा। इसमें सफलता भी मिली। नयी संवेदना इसी कारण नयी काव्य भूमि ढूँढने लगी। नयी कविता आवश्यक हो चली नवीन संवेदना, आवश्यक लगते नये रूपों, प्रतीकों, ऐसी छवियों, शैलियों और ऐसे विचारधाराओं की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति थी। कविताओं में दिख रहा वैश्विक प्रयोगवाद भारतीय संदर्भों में पुराने आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, जुगुप्साकारी सौंदर्यवाद और गाँधीवाद के विरुद्ध बगावती अभिव्यक्तियों के रूप में स्थान बना रहा था। इन पहलुओं को अपने में आत्मसात करने वाली विद्रोही कविताएँ ही नयी कविता के रूप में सामने आयीं। कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार 'समय के साथ ये सच्चाई स्पष्ट होती गयी है कि भारतीय नयी कविता विदेशी प्रभावों को लेकर भी हमारी ही काव्य परम्परा के भीतर से विकसित हुई है। और इसमें हमारे ही सांस्कृतिक सामाजिक जीवन के वास्तविक अनुभवों ने काव्यात्मक रचाव पाया है। यह परम्परा का नया विकास था।'

इस नयी कविता में न कोई अनुभूति वर्जित है और न कोई जीवन दर्शन बहिष्कृत। निराश प्रेम से यौन वर्जनाओं तक, क्रान्ति से भ्रांति तक, सामाजिक सकारात्मक लालसा से लेकर जीवन की रंगीनियों तक इसका विस्तार हुआ। संचेतना के नाम पर अभिव्यक्ति में रौद्र स्फोट अभिव्यक्त होने लगा। इस काल के मुख्य स्तम्भ अज्ञेय, उमाशंकर जोशी आदि ने सार्थक और ठोस अभिव्यक्तियों के माध्यम से तात्कालिक जीवन-दर्शन को रेखांकित किया। मानव मूल्यों को लेकर सामाजिक संघर्ष काव्य क्षेत्र में त्रिआयामी रूप से इंगित हुआ - (1) युगबोध के तत्त्व को समझने के लिए संघर्ष (2) अभिव्यक्ति में नयी सृजनात्मक ऊर्जा लाने के लिए संघर्ष (3) नवीन विचार चेतना और दृष्टि दर्शन का संघर्ष।

काल्पनिक बिम्बों के स्थान पर विचार-बिम्बों को स्थान मिलने लगा। मानव के अवचेतन में झाँकने की कला विकसित होने लगी। काव्य के इस स्वरूप में जीवन की वास्तविकताओं, विद्रूपताओं, विसंगतियों, विडम्बनाओं, मूल्य संघर्षों को उद्घाटित करने की शक्ति देखी जाने लगी। रचनाकर्म की ऐसी प्रवृत्तियों का विकास दो धाराओं में हुआ - (1) प्रगतिवादी धारा (2) प्रयोगवादी काव्यधारा।

'दूसरा सप्तक' की भूमिका लिखते समय अज्ञेय ने कहा है, कि, 'प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, न ही हैं, न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है।' वे आगे कहते हैं - 'जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे ये भूल जाते हैं कि परम्परा कम से कम कवि के लिए कोई ऐसी पोटली बाँध कर अलग रखी हुई चीज नहीं है जिसे वह उठा कर सिर पर लाद ले और चल निकले... संस्कार देने वाली हर परम्परा कवि की परम्परा है। नहीं तो वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भण्डार है, जिससे अपरिचित भी रहा जा सकता है।' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, बल्कि साधन है। यही कारण है, कि प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई कला, कोई रचनात्मकता, आगे बढ़ सकी है। प्रयोग में महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग से प्राप्त होता है। अन्यथा कोरी प्रयोगशीलता का कोई अर्थ नहीं है। प्रगतिवाद की शक्तिशाली सर्जनात्मकता के तत्त्व प्रयोगवाद में विकसित और पुष्ट हुए।

यदि भावदशा के साथ प्रस्तुतीकरण को देखा जाय तो 'नये भावबोध' का प्रबल स्फोट ही नयी कविता है, जो लगातार जड़ होती जा रही अभिरुचियों पर प्रहार किया है। नयी कविता के कवि मुक्तिबोध के विचार से (1) तत्त्व के लिए संघर्ष, (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष (3) दृष्टि विकास के लिए संघर्ष करता है। जहाँ प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के आधिकारिक सूक्ष्म उद्घाटन एवं अवलोकन से है। दूसरे का सम्बन्ध चित्रण सामर्थ्य से है और तीसरे का सम्बन्ध विभिन्न सिद्धांतों से है, विश्व के दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है।

प्रयोगवाद का ही नया काव्यात्मक तेज़ 'नयी कविता' में नयी प्रवृत्तियों के साथ हुआ है। हिन्दी में प्रयोगवाद के ही आधार स्तम्भ 'नयी कविता' के जन्मदाता बने। नयी कविता युग की जटिल वास्तविकता को, रागात्मक सम्बन्धों के बदलाव आदि को अधिक व्यापकता से अभिव्यक्त कर सकती है। यह नयी कविता जन-जीवन से भाषा, बिम्ब-प्रतीक, मिथक, अर्थ-लय आदि ग्रहण करती है। इसलिए यह सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टि से व्यापक जनमानस की अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगती है। यही कारण है कि मानवतावादी, मानववादी, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी, अस्तित्ववादी, अतियथार्थवादी विचारधाराओं की अलग-अलग ध्वनि इसमें सुनायी देती है। नयी कविता की नवीनता है - आत्मसजग, विवेक-व्यस्क मानव-व्यक्तित्व, उसकी सामाजिकता तथा व्यक्ति के अनेकानेक रूपों की महत्त्व-प्रतिष्ठा। यह अनुभूति की विविधता और विस्तार की कविता है।

अर्थात्, यह स्पष्ट हुआ कि, प्रयोगवाद के बाद हिन्दी में जो नवीन काव्यधारा उमड़ कर प्रवाहित हुई उसे 'नयी कविता' कहा गया। इस कविता में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को बहुत सी गतिशील विशेषताएँ मौजूद रहीं। प्रयोगवाद और 'नयी कविता' की तीन धाराएँ हैं - (1) मार्क्सवादी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं मुक्तिबोध (2) मनोविश्लेषण धारा तथा लघुमानवसिद्धांत का समर्थन करते अज्ञेय (3) भवानी प्रसाद मिश्र तथा नरेश मेहता जैसे कवि जो स्वतंत्र रूप से नये काव्य सर्जन में प्रवृत्त थे।

लेकिन यह भी उतना ही सच है, कि सभी रचनाकार संयत और सुगढ़ता के साथ समय के व्यवहार और मानवीय दशा को अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे थे। और यह भी उतना ही सही है कि अपनी तमाम सैद्धांतिकता के बावजूद नयी कविता के अनुयायी गीत रचना की अनुशासनबद्धता से परेशान रहे हैं। विहंगम दृष्टि डालें तो तो 'नयी कविता' गीति-काव्य की नियमबद्धता और अनुशासन से हताश, इससे भागे हुए लोगों का माध्यम होती चली गयी। इसके बाद तो कविता के नाम पर जिस तरह की बोलचाल और क्लिष्ट प्रस्तुतियों का दौर चला कि पहेलियाँ तक पानी भरें! कई बार तो शुद्ध राजनीतिक नारों तक को कविता की तरह प्रस्तुत किया गया। यथार्थ-अभिव्यक्ति के नाम पर गद्यात्मक पंक्तियाँ, कई बार तो क्लिष्ट शब्दावलियों में शुद्ध गद्य-आलेख, 'यही नये दौर की कविता है' कह कर ठेले जाने लगे। काव्य-तत्त्व की मूल अवधारणा से परे नये मंतव्यों को लादा गया। जनरुचि तक का कोई खयाल ही नहीं रखा गया। इस तथ्य पर किसी का ध्यान नहीं गया कि जिस भूमि के जन की सोच तक गीतात्मक हो, जहाँ के प्रत्येक अवसर और सामाजिक परिपाटियों के लिए सरस गीत उपलब्ध हों, उस जन-समाज से गीत छीन लेना कैसा जघन्य अपराध है! गीत या छान्दसिक रचनाओं, जो कि मनुष्य की प्राकृतिक भावनाओं, वृत्तियों और भावदशा के शाब्दिक स्वरूप हैं, के कथ्य बिना अंतर्गोचरता के संभव ही नहीं हो सकते। यही कारण है कि छान्दसिक रचनाएँ सामान्य जन-मानस को इतनी गहराई से छू पाती हैं। तभी, छन्दों के हाशिये पर ठेले जाते ही पद्य-साहित्य, जो जन-समाज की भावनाओं का न केवल प्रतिबिम्ब हुआ करता है, बल्कि जन-समाज की भावनाओं को संतुष्ट भी करता है, रसहीन हो कर रह गया। परन्तु, ऐसी अतुकान्त परिस्थितियों में भी भावार्द्र रचनाकर्मी दायित्वबोध से प्रेरित हो, तो कई बार अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण, लगातार बिना किसी अपेक्षा के गीतकर्म करते रहे। एक पूरे वर्ग का छान्दसिक रचनाओं पर सतत अभ्यास बना रहा।

यहीं इसी काव्यधारा के लगभग समानान्तर जब 'नयी कविता' का जोर था, 'नयी कविता' आन्दोलन काव्य की मुख्यधारा थी, उसी समय 'नवगीत' की धारा फूटी। हमें गीतों के नये कलेवर पर बात करते हुए उन कारणों को समझना होगा कि वे क्या कारण थे कि गीतों की वापसी हो रही थी? वस्तुतः, जिस भावभूमि में गीत प्रत्येक स्तर पर प्रभावी हो उस भावभूमि भारतीय उपमहाद्वीप में रसहीन गद्य बहुत दूर तक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बन सकता। एक समय कई कारणों से गीत और छान्दसिक रचनाएँ जनता से दूर चली गयी थीं, ठीक उसी तरह नयी कविता अपनी शुष्कता और नीरस प्रतीति के कारण जनता द्वारा नकार पाने लगी। विगत चालिस वर्षों में एक कविता कायदे से आमजन की जिह्वा पर स्थान नहीं पा सकी तो यह स्पष्ट

होता है कि वैचारिकता का क्लिष्ट स्वरूप मंथन के अवयव अवश्य देदे, सप्रवाह वाचन के क्रम में वैधानिक साधन के संबल से विचारों का संप्रेषण अधिक आग्रही हुआ करता है।

यही कारण है कि, गीति-काव्य की इस नयी विधा से गीतकार बहुत प्रभावित हुए। 'नयी कविता' के कई कवि 'नयी कविता' की भाव-भूमि पर गीत भी लिखने लगे थे। सन् 1958 में प्रसिद्ध कवि-समीक्षक राजेन्द्र प्रसाद सिंह के सम्पादन में 'गीतांगिनी' का प्रकाशन हुआ। विद्वान सम्पादक ने उन गीतों को 'नवगीत' की संज्ञा दी। उनकी मान्यता थी कि 'नवगीत' विशिष्ट अर्थ में गीतों के मात्र पूरक नहीं, बल्कि संपृक्त इकाई हैं। इस संदर्भ में ब्रजभूषण मिश्र ने वैधानिक विन्दुओं को स्पष्ट करते हुए इसके सात मौलिक तत्त्व गिनाये हैं - ऐतिहासिकता, सामाजिकता, व्यक्तित्व, समाहार, समग्रता, शोभा और विराम। और, आगे उन्होंने पूरक के रूप में 'नवगीत' के पाँच विकासशील तत्त्व बताये हैं - जीवन-दर्शन, आत्मनिष्ठा, व्यक्तित्वबोध, प्रीति-तत्त्व और परिचय।

सन् 1959 ई में ठाकुर प्रसाद सिंह के गीत संकलन 'वंशी और मादल' का प्रकाशन हुआ, जिसमें नये-नये बिम्बों का प्रयोग हुआ था। ठाकुर प्रसाद सिंह ने राजेन्द्र प्रसाद सिंह के संग्रह 'गीतांगिनी' के गीतों को नवगीत न मानते हुए, 'वंशी और मादल' के गीतों को ही सही नवगीत बताया। नवगीत का प्रस्थान विन्दु उन्होंने इसी संग्रह को माना। इसके बाद सन 1969 से नव संभावना, नयी चुनौती, नयी विषयवस्तु और सौंदर्यबोध से 'नवगीत' रचे जाने लगे। हम इस विवाद में पड़ना उचित नहीं समझते। कारण कि, कोई मानवीय चेतना व्यापकता के उच्च स्तर पर वैयक्तिक प्रयासों का प्रतिफल नहीं होती। इस सत्य को नवगीत का समीक्षक समाज जितनी जल्दी स्वीकार ले उतना ही अच्छा। निराला की पंक्ति 'नव गति नव लय, ताल छन्द नव' के आलोक में नवगीत की प्रतिष्ठा देखने वाले नवगीतकार केदारनाथ अग्रवाल के सामाजिक भावबोध और वैयक्तिक व्यवहार का सामाजीकरण की पारस्परिकता को नकार दें यह काव्य-साहित्य के लिए कभी उचित नहीं होगा।

'नवगीत' का 'नव' उपसर्ग मात्र नहीं है, बल्कि यह उपमा है, जो इन गीतों को उस दौर की नुमान्दगी करने का स्वरूप देता है। नवगीत चिंतन के स्तर पर सर्वाधिक यथार्थपरक, अपनी जमीन से जुड़ी और भारतीयता से भरी होती है। भारतीय समाज के जन के मन, जन की परम्परा, आस्था और संघर्ष नवगीत में बढ़िया से अभिव्यक्त होते हैं। नवगीतों में एक तरह से आंचलिकता और क्षेत्रीयता होती है, जिसके माध्यम से रचनाकार और पाठक ग्रामीण निश्छल-जीवन, कस्बाई अनुभूतियों, भावना के स्तर पर लोकधर्मी संस्कारों से जुड़ा होता है। जिन्दगी की कठिन अनुभूतियों को जिन्हें सामान्य गीतों के माध्यम से शाब्दिक न किया जा सके, नवगीतों के माध्यम से सहज ही अभिव्यक्त होने लगे हैं। नवगीत अनुभूति, जीवन के अनुभव और आधुनिक विचारों की गीतात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम हैं। ऐसे गीत सामाजिक समझ की आधुनिक चेतना से टकरा कर ही अभिव्यक्ति पाते हैं।

छायावाद के बाद बहुत दिनों तक यह भ्रम बना रहा कि गीत वर्तमान जिन्दगी के उलझाव और उसकी क्लिष्ट संवेदनाओं को ढो सकने में सक्षम भी हैं या नहीं? किन्तु, नयी कल्पना और टटकापन से लवरेज बिम्बों के प्रयोग से यह भ्रम बखूबी टूटा। कहने का तात्पर्य है कि जिन 'गीतों' ने इस भ्रम को तोड़ा वही नवगीत हैं। माहेश्वर तिवारी के शब्दों में हम कहें तो, हर नवगीत गीत है, लेकिन हर गीत नवगीत नहीं होता है। देहाती या कस्बाई के ठेठ बिम्ब या प्रतीक नवगीतों को युगधर्मी बनाते हैं। यानी, नवगीत समाज के वंचितों का साथ देते हैं। नयी कविता पर काम करने वाले रचनकर्मी नवगीतों के विन्यास की कसौटी पर अपनी कविताई को आँक सकते हैं। वर्ना, नयी कविता के कर्मियों पर यह आक्षेप लगता ही रहेगा कि काव्य अनुशासन से हताश लोगों को नयी कविता संरक्षण देती है।

गीतों का उत्स जहाँ मानवीय संवेदनाओं से अभिप्राणित नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियाँ होती हैं, उनका लक्ष्य मनुष्य की संवेदनाएँ ही होती हैं। मनुष्य की सामुहिक सोच एवं विभिन्न मनोदशाएँ भी गीतों में ही सार्थक स्वर पा सकती हैं। ऐसा यदि सहज तथा प्रवहमान ढंग से हुआ है तो फिर न केवल 'गीत' नये आयामों में 'नवता' को जीते हैं, 'नवगीत' की अवधारणा एक बार फिर से परिभाषित होती हुई-सी प्रतीत होती है। इन अर्थों में प्रश्न उठता है, कि क्या स्वानुभूतियों का व्यापक होना समष्टि से बनते संवाद का इंगित नहीं होता? या हो सकता है? क्या हर व्यक्तिगत अनुभव व्यापकता में समूचे मानव-समुदाय का अपना अनुभव नहीं होता? क्योंकि, वस्तुतः कोई सचेत एवं दायित्वबोध से सजग कवि अपनी व्यक्तिगत सोच में समस्त मनुष्य-जाति को ही जीता है। तभी तो व्यष्टि-समष्टि से बँधा कोई गेय-संप्रेषण वस्तुतः मानवीय चेतनानुभूति का ललित शब्द-स्वरूप हुआ

करता है। विभिन्न भावों को ग्रहण कर उसकी वैयक्तिक अभिव्यक्ति मानवीय विशिष्टता है। गीतों का सम्बन्ध भले ही वैयक्तिक हृदय और उसकी अनुभूतियों से हुआ करता है, किन्तु, मानव-समाज के कार्मिक वर्ग का सामूहिक श्रमदान इन गीतों के शाब्दिक स्वरूप से ही प्रखर तथा ऊर्जावान होता रहा है। ग्रामीण परिवेश में गीत गाती स्त्रियों की सामूहिक कार्यशीलता हो या खेतों या कार्यक्षेत्र में कार्यरत पुरुषों का समवेत प्रयासरत होना हो, गीत स्वानुभूतियों को ही समष्टि की व्यापकता में जीते हैं। अर्थात्, वैयक्तिक हृदय से उपजे गीतों का बहुजन-प्रेरक, बहुउद्देशीय-स्वर एवं इनकी सांसारिकता पुनः एक सिरे से परिभाषित होती है। अर्थात्, सामूहिक श्रमदान के क्रम में भावजन्य, आत्मीय, सकारात्मक मानवीय संस्कार ही गीतों के सर्वमान्य होने का प्रमुख एवं व्यापक कारण हुआ करता है। नवगीत से हो कर गुजरना एक टटका अनुभव है, जिसमें आत्मीयता का अपनापन है। मानवीय सम्बन्धों पर पड़ती हर तरह की चोट को मिला स्वर हैं ये नवगीत। अधिक भावुकतापूर्ण जीवन दृष्टि, और अभिजात्य ठसकपन इन नवगीतों के विषय हो ही नहीं सकते। नवगीत यथार्थबोध का मुखर पक्षधर है। आजके मशीनी युग में जीते हुए मानव की जिन्दगी की लयात्मक प्रस्तुति हैं ये नवगीत। इसी कारण कहते हैं कि, काव्य क्षेत्र में नवगीत साहित्यिक प्रवृत्ति की आन्तरिक सोच-मंथन प्रक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त सर्वहारा जीवन-दर्शन के कारण आये हैं। आज़ादी के पूर्व जिन भरोसों पर आमजन जी रहा था, आज़ादी मिल जाने के बाद उसे बड़े झटके लगे। नेता या शासक वर्ग की कथनी-करने में दीखते अंतर से जनता का मोहभंग हुआ। समाज में आलस, थकान, कुंठा व्याप को स्वर देना आवश्यक प्रतीत हुआ। हर कदम पर ठगे हुए होने का अहसास होने लगा। आपसी अविश्वास बढ़ने लगा। झुंझलाहट एक तरह से आम लोगों की आदत में शुमार हो गयी। पारिवारिक टूट के कारण सभी त्रस्त होने लगे। ऐसी स्थिति में भला काव्य-विधा कैसे अछूती रह सकती थी? माहौल की इसी विद्रूपता को नयी कविता के समानान्तर गीति-काव्य की विधा में सरस बहाव मिला। इसतरह, नवगीत व्यक्ति की सामाजिक मोहभंगता की उपज हैं।

अपने शिल्पगत गठन और आकार में नवगीत छोटे होते हैं। नवगीत को पढ़ते हुए शाब्दिक, शैल्पिक टटकापन, संक्षिप्तता, सांकेतिकता, लाक्षणिकता, व्यंजनात्मकता, नयी काव्य-भंगिमा की अनुभूति होती है। आंचलिकता का भाव प्रभावी होता है, इसी कारण, लोकप्रचलित शब्द, लोक समर्थित-आश्रित बिम्ब और प्रतीकों का उपयोग बहुतायत में होता है।

वस्तुतः, गीतों में आया आधुनिकताबोध गीतों में सदियों से व्याप गये 'वही-वहीपन' का त्याग है। इसे पारम्परिक गीतों को सामने रख कर समझा जा सकता है, जहाँ बिम्ब-प्रतीक ही नहीं कथ्य तक एक ढर्रे पर टिक गये थे। रूमानी भावनाओं या गलदशु अभिव्यक्तियों से गीतों को बचा ले जाना भगीरथ प्रयास की अपेक्षा करता था। इसी तरह के प्रयास के तहत अभिव्यक्तियों के बासीपन से ऊब तथा अभिव्यक्ति में स्वभावतः नवता की तलाश आधुनिक सृजनात्मकता प्रक्रिया का आधार बनी। जो कुछ परिणाम आया वह 'नवगीत' के नाम से प्रचलित हुआ।

परन्तु, आमजन को जोड़ने के क्रम में यह भी प्रतीत होने लगा है, और यह अत्यंत दुःख के साथ स्वीकारना पड़ रहा है, कि नवगीतों के माध्यम से हो रही आज की कुछ अभिव्यक्तियाँ मानकों के नाम पर अपनी ही बनायी हुई कुछ रूढ़ियों को जीने लगी हैं। जबकि गीतों में जड़ जमा चुकी ऐसी रूढ़ियों को ही नकारते हुए 'नवगीत' सामने आये थे। इस स्थिति से 'नवगीत' को बचना ही होगा, आज फ्रैशन हो चले विधा-नामकरणों से खुद को बचाते हुए! यह स्वीकारने में किसी को कदापि उज्र न हो, कि 'नवगीत' भी प्रमुखतः वैयक्तिक अनुभूतियों को ही स्वर देते हैं जिसकी सीमा व्यापक होती हुई आमजन की अभिव्यक्ति बन जाती है।

#### संदर्भ :

1. गीत वसुधा – सम्पादक – नचिकेता, अवधेश नारायण सिंह, यशोधरा राठौर
2. प्रयोगवाद और नयी कविता – लेखक – कृष्णदत्त पालीवाल
3. समकालीन हिन्दी गीत के पचास वर्ष – लेखक - नचिकेता
4. नवगीत एक परिसंवाद – सम्पादक – निर्मलशुक्ल
5. समकालीन छन्द प्रसंग – डॉ. भारतेन्दु मिश्र
6. नवगीत के नये प्रतिमान – सम्पादक – राधेश्याम बन्धु
7. भोजपुरी नवगीत : एगो लेखा-जोखा – लेखक – डॉ. ब्रजभूषण मिश्र
8. बात बोलेगी – सम्पादक - योगेन्द्र वर्मा 'व्योम'